बस पाँच मिनट

हिन्दी ADDA

अनिल प्रभा कुमार

बस पाँच मिनट

वह नाच रही थी। देह जैसे तूलिका। मंच के कैनवास पर कलाकृति उकेरती हुई। देह-यष्टि की भंगिमाएँ, हाथों की मुद्राएँ और आँखों के भाव, सब रंग भर रहे थे कल्पना के इस सुंदर चित्र में। थिरकती जा रही थी वह। पाँव जैसे रंगों के कटोरों को

हल्का सा टोहका लगाकर वातावरण में जादुई-सा इंद्र-धनुष रचते। दर्शकों को वह देख नहीं पाती। उन पर अँधेरा और उस पर छेड़खानी करता उजाले का गोला। वह आत्मलीन-सी नाचती रही। देह-आत्मा सब एक। दर्शक भी बँधे थे। मंत्र-बिद्ध या नृत्य-बिद्ध। शायद सौंदर्य-बिद्ध। समय कहीं बहक गया। होश आया तब, जब दोनों हाथ जोड़ वह अभिवादन के लिए झुकी। तालियों की गड़गड़ाहट। वह भीगती रही उस पल में जो उसका था।

पर्दा गिर गया। तालियाँ बजती रहीं। वह धीरे से ग्रीन-रूम की ओर बढ़ी। कोने में वह खड़ा था। टकटकी लगाकर उसे देखता, मुस्कुराता हुआ। वह भी मुस्कुरा दी। युवक ने लपककर हाथ में पकड़े फूल उसकी ओर बढ़ा दिए। वह रुक गई। फूल लेकर आँखें उठाईं। कुछ था उसके चेहरे पर, उन आँखों में जो वह जरूरत से ज्यादा क्षणों तक बँधी रुकी रही।

"यू आर ब्यूटी पर्सोनिफाइड।" वह बहुत धीमे से फुसफुसाया।

वह अंदर तक सिहर गई। मैं और सुंदरता का मूर्त रूप?

"थैंक यू" कहकर वह जल्दी से आगे बढ़ने लगी। पाँव हिल नहीं पाए। वह उसके इतने पास खड़ा था कि वह भीतर तक एक कोमल ऊष्णता से भर गई। एक मीठा, गुनगुना सा एहसास। वह पूरी तरह उसमें भीगी भी न थी कि वह पल आ ही गया जो नींद से चेतना में आने के बीच आता है। वह उसे पकड़े रखना चाहती थी पर वह सुख बहुत कोमलता से उसका हाथ छुड़ाकर खिसक गया।

उसने धीरे से आँखें खोलीं। थोड़ी देर पहले देखे सपने की मादकता अभी भी उस पर छायी थी। सपने में सब कुछ पहले जैसा ही था। "कोई नहीं छीन सकता मुझसे यह सपने देखने का सुख।" उसने अपने-आप से कहा।

बंद कमरे के बाहर की आवाजों को उसने बिल्कुल अनसुना कर दिया। चुपचाप लेटी रही। बाहर के दरवाजे की जोर से बंद होने की आवाज आई। सब चले गए। सूनापन सेंध लगाकर उसके भीतर तक आ गया। वह लगातार छत की ओर घूरती रही।

उठना क्यों जरूरी है? इस सवाल का जवाब उसे नहीं मालूम। असल में उसे किसी भी सवाल का जवाब नहीं मालूम। हो भी तो क्या कर लेगी? नकार ही देगी न। यह दिमाग क्यों चलता रहता है इतना, निरंतर? क्यों आई थी वह यहाँ, इस देश में? पढ़ने? न, शादी करने। मामा के सुझाव पर। स्टूडेंट वीसा की आड़ लेकर।

दाखिला तो हो ही गया था। पर क्या पढ़ पाई? नहीं न, क्यों? लपटें, धुआँ, कालिख और घटाटोप अँधेरा। उसकी साँसें रुकने लगीं। घबराकर उसने लिहाफ अपने ऊपर से फेंक दिया। आँखों के आगे ठहर गईं अपनी ही दो ठूँठ-सी बाँहें। हाथों की जगह पर दो बेडौल से टुंड-मुंड। वह देखती रही उन बाँहों को जिन पर कलाई भर चूड़ियाँ पहनने के उसने सपने देखे थे। हथेलियाँ, जहाँ मेहँदी रचाने जैसा कोई चोचला नहीं हुआ पर उसके कत्थई बदसूरत धब्बे फैल गए उसकी सारी चमड़ी पर। उसके अंदर कुछ हल्का-हल्का सा काँपने लगा। वह पहचानती है इस कंपन को। अगर इसे नहीं रोका तो यह भूकंप बन जाएगा और धराशायी कर देगा उसको। हर सोच को उसने परे धकेल दिया।

उठना चाहा, पर शक्ति नहीं थी। 'उठ, उठ रे मना, उठ।' वह अपने को ही पुचकारने लगी। इतना आसान नहीं था उठना। पहले करवट ली। एक टाँग नीचे सरकाई, फिर दूसरी। दोनों पैर कार्पेट पर रखकर वह धीरे से बैठ गई। वही पहचाने दर्द की लहर। हाथों से पलंग की पाटी को पकड़ा। मन में कहा - "चलो दर्द हम-तुम दोस्ती कर लेते हैं।" धीरे से उठी और डगमगाती हुई बाथरूम की ओर बढ़ी।

आईने से आँखें चुराती रही। मुँह पर पानी के छींटे मारे। तौलिए से मुँह पोंछते हुए चेहरा ढके रखा। धीरे-धीरे तौलिया सरकाया तो निगाह शीशे पर पड़ ही गई। वह सहमी पर देखती रही।

कौन है यह? मैं तो नहीं? पाँच साल हो गए इस चेहरे को देखते हुए फिर भी इससे पहचान नहीं बिठा पाती।

छह महीने तक कोमा में रही। डॉक्टरों ने दिन-रात उसको बचाने की कोशिश की थी। 'बर्न एंड ट्रॉमा' यूनिट की नर्स एलिस ने ही सब बातें बताईं।

"तू बच कैसे गई? यही एक चमत्कार है। जब तेरी अधजली देह को 'बर्न यूनिट' में लाए तो तू तब भी साँस ले रही थी। तेरे नाक और होंठ जले कोयलों जैसे मेरे ही हाथों में झरे थे। हमें उम्मीद नहीं थी कि तू बच जाएगी पर हमने उम्मीद नहीं छोड़ी। वुई वर होपिंग अगेंस्ट होप।"

वह सोचती है कि उसकी जिंदगी यही है। जब कुछ भी बचने की उम्मीद न हो तब उसके विरुद्ध उम्मीद - जीने की।

सर्जरी की कभी न खत्म होने वाली श्रृंखला। शल्य-चिकित्सकों की जंग चल रही थी जिंदगी को बचा ले जाने की, आखिरी साँस तक। भाग्य को धता देने की जिद। कहीं इन सबको भीतर ही भीतर आँच देती रही होगी शायद उसकी अपनी ही अदम्य जिजीविषा।

सोचती है, सती के अंग जहाँ-जहाँ गिरे, वहाँ मंदिर बन गए। जहाँ मुझ जैसी जलीं, गिरीं, वहाँ कहीं किसी के दिल में सूराख तक नहीं हुआ। सब ध्वंस ही हुआ, बना कुछ नहीं।

मंदिर तब बनते हैं, सती का दाह तब पूजनीय होता है जब कोई शिव उस दाह को अपने कंधों पर उठाए सृष्टि में डोलता है।

कोई है शिव मेरे पास?

सोना की आँखें अतीत की गली में भटककर अंधी हो जाती हैं।

"तुम लौटकर वापिस चली जाओ।" कैसे कहा था उसने वह अपने उस एक महीने पुराने पति का चेहरा ही देखती रह गई थी। क्या यही था मामा का चुना देवता सरीखा लड़का? सब बातें तय हो चुकी थीं बस उसके अमरीका पहुँचने की देरी थी और वह छात्रा बनकर आ भी गई। मामा ने ही 'बॉस्टन' में उसकी कोर्ट में शादी के बाद बड़ी-सी दावत भी दे दी।

वह चली आई न्यूयॉर्क अपने पति के साथ। चाचा-ससुर का रियल एस्टेट का धंधा था। वह पुरानी इमारतें खरीदते, ठीक करते, किराए पर चढ़ाते या फिर मुनाफा देखकर

बेच डालते। उन्हीं चाचा-ससुर का एक पुराना खाली अपॉर्टमेंट बन गया नव-विवाहित का नीड़। वह खुश उत्साहित और वह खिंचा-खिंचा सा।

धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा, वह सोचती। उसे इतना विश्वास था अपने ऊपर। सुंदर है वह, तन से और उससे ज्यादा मन से। बाँध लेगी उसको। बस थोड़ा समय बीतने दो।

समय बीत रहा था। कागजों पर दस्तखत करते, इकट्ठा बैंक का खाता खोलते, इकट्ठा क्रेडिट-कार्ड, उसकी वीजा की नई अर्जी, दोनों का जीवन-बीमा, दोनों किसी एक के जीवन-अंत के बाद एक-दूसरे के लाभार्थी। मकान की लीज भी दोनों के नाम, यानी हर हिसाब से पति-पत्नी। अमरीकी सरकर को उसी के नियमों में सेंध लगाकर छात्र वीजा से एक अमरीकी नागरिक की ब्याहता पत्नी के स्थायी वीजा में बदल देने की पूरी तैयारी।

उस रात वह बहुत गुस्से में था।

"तुम्हें वापिस जाना ही होगा।"

वह अपमान से सुलग उठी।

"क्यों? क्यों जाऊँ मैं? अमरीकी बाजार से खरीदी हुई कोई चीज नहीं हूँ मैं कि जब जी चाहे वापिस कर दोगे।"

"तुम्हारे बाबा ने धोखा दिया।"

वह सकते में, अवाक।

"समझौता हुआ था, शादी अमरीका में होगी और वह मेरे घरवालों को दहेज भारत में देंगे। दस लाख रुपया कहा था। मेरे पिताजी को कुछ नहीं मिला।"

उसे लगा जैसे धरती को चक्कर आया हो। सँभली। पलट कर फुफकारी।

"क्यों दे मेरे बाबा तुम्हारे पिताजी को? क्योंकि मैं लड़की हूँ सिर्फ इसलिए? किस बात में कम हूँ तुम से? बताओ किस बात में कम हूँ जो मेरे बाबा उसका मुआवजा दें।"

वह बिल्कुल उसके पास आकर, उसकी आँखों में नफरत और हिकारत का जहर उढ़ेल रही थी।

पति ने आँखें झुका लीं। थोड़ा असहज हो उठा।

"यह सरासर धोखा है। यह ब्याह ही इस शर्त पर तय हुआ था।

"तो फिर तुम्हारे पिताजी क्यों नहीं देते बीस लाख रुपया मेरे बाबा को?"

अब वह उसके दुस्साहस पर अवाक था।

लड़ना छोड़कर वह वहीं पलंग पर बैठ गई।

"मुझे पता होता तो मैं कभी तुमसे शादी नहीं करती।" अब वह एकदम पस्त हो चुकी थी।

"खैर, पैसे तो मैं किसी न किसी तरह वसूल कर ही लूँगा। और सुनो, अपनी सुंदरता पर ज्यादा घमंड मत करना।" धमकी देकर वह घर से निकल गया था।

सुंदरता मेरे भीतर है, मेरी आत्मा में। मेरे रक्त की एक-एक बूँद तक में। उसे नहीं मिटा पाओगे। दुस्साहस भी न करना। वह चुपचाप अपने कोर्स की पुस्तकें फैला कर बैठ गई।

अक्षर, कमरे की चीजें ही नहीं रोशनी तक धुँधली पड़ गई। विवाह के जो मीठे सपने लेकर वह इस अजनबी देश तक भागी आई थी वह आखिरी साँस ले रहे थे। उसके सपनों में तो यह बातें कभी आई ही नहीं। वहाँ प्यार के सब रंग थे पर बाजार का यह काला रंग कहाँ से आ गया?

अब पति रोज तैयार होकर शाम गए निकल जाता। वह पीछे भागती।

"कब लौटोगे?"

"चाचा के घर में बिजनेस मीटिंग है।"

वह कह न पाती कि उसे अकेले रात में डर लगता है। उस रात तो पति के घर से निकलते ही बिजली भी चली गई। सुना था अमरीका में यूँ ऐसे ही बिना मतलब बिजली नहीं जाती। वह करवटें बदल-बदल कर पता नहीं कब सो गई।

सपने में भी अँधेरा। चेतना का घुप्प अँधेरा, जीवन से मृत्यु की डोर तक फैला हुआ। लगा छँट रहा है धीरे-धीरे। दिखाई कुछ नहीं देता। आवाजें सुनती है, सहलाती-सी। इतनी अँग्रेजी, अमरीकी उच्चारण समझ नहीं पाती।

"सोना, मैं अंकित हूँ। वालंटियर हूँ यहाँ, इस अस्पताल में। मुझसे बात करोगी?"

उसने हामी में सिर हिलाया। कोई उससे बात कर रहा था, उसी की भाषा में। वह दुभाषिया बन गया उसका।

"कैसा महसूस कर रही हो?"

वह बस सिर हिलाती है।

"बोलो, मुझसे बात करो।"

"माँ...।" पता नहीं कहाँ से एक तड़प उठी और आवाज बन गई।

"तुम्हारी माँ आई थी, भारत से। यहीं तुम्हारे पास बैठी रहती थीं। तुम कोमा में थी। याद नहीं होगा।"

उसे याद आती है वह पहचानी छुअन, वह सहलाती आवाज और फिर बेहोशी। फिर होश, थोड़ा और होश। एक अलग से वातावरण में होने का।

"सोना, तेरी आँखों की झिल्ली का जो प्रत्यारोपण हुआ था, आज उसकी पट्टी खुलेगी। तू देख पाएगी।" डॉ वैल्श कह रहे हैं - "तू अपनी शक्ल देखकर घबराना मत। धीरे-धीरे आदत हो जाएगी। नए चेहरे के साथ जीना सीख जाएगी।"

उसने तब पहली बार अपना चेहरा देखा। डर के मारे चीख निकलते-निकलते रह गई। प्रेत का चेहरा शायद ऐसा ही होता होगा। सर्जन, मनोचिकित्सक, अंकित, एलिस सब साँस रोके साथ खड़े थे।

डॉक्टर वैल्श ने उसके ठूँठे हाथ पर अपना हाथ रखकर कहा था - " मैं नास्तिक हूँ पर तुम्हें देखकर ऊपर वाले के आगे, अगर कोई है, तो सिर झुकाता हूँ। तुम उसकी चमत्कारिक शक्ति का जीता-जागता उदाहरण हो।

एलिस की गालें भीगी थीं। "यू आर ब्यूटीफुल", बस इतना ही बुदबुदा पाई।

उसे भी लगता है कि वह वही सुंदर प्यारी सी सोना है। जो इस विकृत, खंडित और झुलसी काया में बंदी है। उसकी आत्मा फड़फड़ाती है इस कुरूप चोले से बाहर निकल वापिस अपने पुराने शरीर में लौटने के लिए। इस देह, इस चेहरे को नहीं पहचानती वह। रोज सुबह उठकर पहला सामना इसी नए चेहरे से होता है। रोज पिछले पाँच सालों से।

वह देखती है बुरी तरह से जला हुआ चेहरा। त्वचा पर भद्दे धब्बे। आँखों पर से पलकें गायब। पीली सी भवें उगाई गई हैं। नासिका है पर उसकी तो नहीं। वह इस नाक से तालमेल नहीं बिठा पाती जिसे लेकर वह पैदा ही नहीं हुई। उसके नाक-होंठ तो पिघल गए, सिर्फ सुराख बचे थे। कितने ऑपरेशन हुए, याद नहीं। नई नाक लगा दी गई, साँस लेने के लिए। होंठ भी फिर से बने, बस खाना-खाने के लिए और बोलने के लिए। चूमने वाले होंठ स्वाहा हो गए थे उसी आग में। न हैं न कभी लौटेंगे ही।

क्यों? क्या किया था मैंने? वह फफक पड़ी। अपना चेहरा आईने में देखती रही। उसके गले से विलाप जैसी घरघराती सी आवाज निकली। उसने अपने को रोका नहीं। फूट-फूट कर रोती रही। रोते हुए हाँफने लगी तो उसने सिंक का नल पूरे वेग से खोल दिया। जोर-जोर से अपने मुँह पर पानी फेंकने लगी जैसे अपने को होश में लाने के लिए थप्पड़ मार रही हो। "चुप, बस हो गए पाँच मिनट। अब और नहीं रो सकती। तेरा आज का रोने का कोटा खत्म।"

उसने अपने रोने पर जबरन ब्रेक लगाई और तैयार होने लगी। यह तैयार होना भी युद्ध पर जाने जैसा था। दुनिया के सामने आने की, सच से भिड़ने की तैयारी में घंटों लगते। ढेर सारे लोशन, क्रीमें, मुँह पर, शरीर पर - संक्रमण से बचाव के लिए। फिर मेक-अप की परतें इस क्रूर मजाक को ढकने के लिए।

पूरी बाँहों का, बंद गले का टॉप-टर्टल नैक, वाकई कछुए की तरह गर्दन बाहर उचकती-धँसती। पैंट, मोजे, पिघले हुए पैरों के लिए खास जूते। सिर पर पहले हैट पहनती थी तो लोग ज्यादा ही पलट कर देखते। अब सिर पर आगे-आगे थोड़े से बालों का प्रत्यारोपण हो गया है दुपट्टेनुमा लंबे स्कार्फ से सिर ढककर, गले के इर्द-गिर्द लपेटकर पीछे फेंक देती है।

फिर चेहरा। आँखों के कोटर, झिल्ली का प्रत्यारोपण। पलकों की बेढंगी-सी आड़ जैसे किसी दरिद्र की झोपड़ी के बाहर नुचा-खुचा टाट का परदा। बरौनियाँ उग नहीं सकी। भवों पर कोशिश का नतीजा थी यह हल्की-सी मरियल रेखा। उसकी आँखें सब देख सकती हैं पर इन आँखों की ओर कोई नहीं देख पाता। धूप का बड़ा सा चश्मा। आँखों की भयावहता पर पर्दा डालने की नाकामयाब सी कोशिश।

गालों और ठुड्डी की झुलसी हुई चमड़ी के बीच एक बेगानी-सी नाक जो उसके ही शरीर के तंतुओं को लेकर गढ़ी हुई, फिर भी कितनी बेगानी? साँसे आती हैं, गंध नहीं। न किसी चीज की और न ही किसी इनसान की।

सारे चेहरे को वह ध्यान से देखती है। माँ बचपन में नाराज होती तो कहती थी - मुँहजली और वह खिलखिला कर हँसा करती। न माँ के कोसने में गुस्सा होता था और न ही उसके हँस ने में गुस्ताखी। वह मुस्कुराई और अपने दाँतों को देखती रही। वह अभी भी उसके पहले चेहरे के ही लगे, उसके अपने, सगे। उसने उसी मुस्कराहट को चेहरे पर सजा लिया। त्वचा के रंग से मेल खाते दस्ताने उसने निकाल कर हैंड-बैग में रख लिए। कब तक पहने?

पुनर्स्थापन हो रहा था उसका। हर चीज फिर से सीखनी थी। चलना, बैठना, उठना, दिनचर्या की जरूरतों से जूझना। भग्न अंगों को प्रशिक्षण देना ताकि वह स्वायत्त बन

जाए। हर रोज जिंदगी जीना भी एक युद्ध हो सकता है, अब मालूम हो गया। हर रोज एक नया युद्ध। तन का ही नहीं मन का भी।

बाबा नहीं रहे। बेटी की बदकिस्मती के लिए अपने को दोषी मानकर खुद भी स्वाहा हो गए। माँ ने ऐसी चुप्पी साधी कि सब कुछ भूल गई, अपने आप को भी। भाई सँभालता है उन्हें। उससे बात हुई थी। भाई ने प्यार से समझाया, "वहाँ तेरा इलाज अमरीकी सरकार मुफ्त कर रही है। कुछ है जो नहीं तेरे पास, तुझे मना कैसे करते? यहाँ क्या करेगी आकर?"

वह सब समझती है पर पता नहीं क्यों सब सच होने के बावजूद मन झूठ सुनना चाहता है।

"सब ठीक हो जाएगा। तेरा घर है, आजा।" कोई नहीं कहता।

"कहाँ रहोगी? क्या करोगी?" सामाजिक कार्यकर्ता उससे पूछते। वह शून्य में देखती। देख सकती है इस दुनिया को जो इतनी खूबसूरत है और उसने अभी देखी ही कहाँ है? बाँहें, पैर अब अपनी जरूरत के मुताबिक चला लेती है बात कर सकती है। हँस सकती है। कुछ तो कर ही सकती है, कर लेगी। कोई ऐसा काम जो अदृश्य होकर कर सके।

समय का एक छोटा-सा बुलबुला था जिसमें उसका इंद्र-धनुषी संसार, संबंध बने थे। फिर आग लग गई उसमें। सब कुछ कहाँ लुप्त हो गया? मामा कभी-कभी मिलने आते। सांत्वना देते।

"वह चाचा-भतीजा अपने किए की सजा पा रहे हैं। मिल-जुल षड़यंत्र किया था उन्होंने। जानबूझ कर उस रात को घर में आग लगाई थी। चाचा को इमारत जलने का भारी मुआवजा मिलता और भतीजे को इस पत्नी से मुक्ति और उसकी जीवन-बीमा की भारी रकम। अमरीका के कानून को उन्होंने मजाक समझने की भूल की। बीस साल तक सलाखों के पीछे सड़ेंगे।"

फिर मामा खुद ही उसे देखकर सिसक पड़ते। "बहुत कम सजा है उनके इस अपराध के मुकाबले। उन्हें हत्या करने के जुर्म की सजा मिलनी चाहिए थी।"

वह चुप दूर तक चली जाती है। चाह कर भी उस थोड़ी सी देर के लिए कहलाए गए पति के लिए घृणा, प्रतिशोध कुछ नहीं महसूसती। सोचती है, मुझ से उस आदमी की कोई दुश्मनी नहीं थी। हाँ प्यार किसी और चीज से था, पैसे से। उसकी जगह पर कोई और होती तो भी यही होना था। शायद वह भी नहीं जानता कि इस आग में क्या-क्या स्वाहा हो गया? इमारत ही नहीं, सिर्फ वही नहीं, माँ और बाबा ही नहीं उसकी अस्मिता तक राख हो गई।

ढूँढ़ती है वह अपनी पुरानी देह, अपना वही पहले वाला चेहरा। अपनी आजादी और अपने सपने। सभी कुछ तो उसकी जिंदगी से झड़ गया, उस एक आग में। वह उस आदमी को अपनी यह हालत दिखाना चाहती है एक बार। आ मुझ राख को देख, बस।

"न, तू राख कहाँ हुई? तू तो सोना है। तप कर कुंदन बन निखरी है" शमिता दीदी कहती हैं।

हेल्प सेंटर ने शमिता दीदी से संपर्क करके उसके पास भेजा है। आपके देश की है। आपसे बात करके सोना को आत्मबल मिलेगा।

वाकई शमिता दीदी कैसे उसकी बाँह पर हाथ रख, उसे प्रेम से देखते हुए बात करती हैं। वह खुद अपने को आईने में देखने का साहस नहीं कर पाती और शमिता दीदी...?

"सोना, तुझे अच्छा लगता है न कि तू बच गई?"

इससे पहले भी उसने कई लोगों की आँखों में यह प्रश्न दूसरी भाषा में पढ़ा है। "क्या इससे अच्छा न होता कि तू मर ही जाती?" पर शमिता दीदी तो मनोविज्ञान पढ़ाती हैं, पुस्तकें लिखती हैं। उन्हें मालूम है कि कैसे बात को सकारात्मक (पॉजिटिव) तरीके से करना है।

वह सोचती है। सोचती ही तो रहती है। शरीर झुलसा है पर फिर भी मैं तो शेष हूँ। झुलसी हुई, बदले चेहरे और जिस्म वाली, सब बातों के बावजूद मैं फिर भी "मैं" हूँ। सोना नाम की लड़की, जो रहेगी जब तक यह साँस रहेगी। मैं हूँ। क्यों हूँ? नहीं जानती। कोई कारण, कोई उद्देश्य होगा जो मैं जीवित हूँ।

उसने गहरी साँस ली। फेफड़ों में जैसे कोई प्राण वायु भर रही हो। कोई अदृश्य हाथ पकड़ कर आगे बढ़ने के लिए, मैं तैयार हूँ।

बोली, "हाँ दीदी, मैं खुश हूँ जिंदा रहकर। मैंने तो अभी जिंदगी जी ही कहाँ थी? मैं सब कुछ जीना चाहती हूँ।" फिर वह रुक सी गई। कहना चाहा, मैं प्रेम पाना चाहती हूँ। मैं प्रेम देना चाहती हूँ। पर कहा इतना ही," जो भी, जितना भी मैं जीने के काबिल हूँ, मैं जीना चाहती हूँ। जिसने मुझे मरने नहीं दिया, मैं उसकी इस इच्छा का सम्मान करना चाहती हूँ।"

"मुझे बस हाथ पकड़कर उठा दो मैं खुद चलने लगूँगी।" उसने मामा से कहा था।

अंकित ने अस्पताल में उसे अमरीका के बारे में बहुत कुछ बताया था। उसी के आधार पर उसने हवा में सीढ़ी लगा ली। निर्णय उसका था। मामा को विश्वास नहीं था फिर भी मान गए।

भारतीय बाहुल्य न्यू-जर्सी के एडिसन इलाके में उसको एक कमरे का छोटा सा अपॉर्टमेंट किराए पर ले दिया। पिछड़ी-सी जगह, जहाँ शायद आरंभिक संघर्ष करते भारतीय आकर रहते थे। एक भी अमरीकी इस बिल्डिंग कॉम्पलेक्स में नजर नहीं आया। मामा ने घर की जरूरी चीजें, कुछ नई और ज्यादातर अपनी पुरानी और एक फोन का इंतजाम कर दिया। शमिता दीदी ने सहायता फंड से लाकर उसे कुछ डॉलर्स दे दिए।

"मामा, बस अगले महीने से मैं खुद अपना खर्चा सँभाल लूँगी।"

वह अविश्वास से देखते रहे।

"करने दीजिए। इसमें जीवन जीने की वह चिंगारी है जो इसे ऊर्जा देगी, कभी हारने नहीं देगी।"

उसे अच्छा लगा था शमिता दीदी का अपने ऊपर इतना विश्वास। लगा कि इस विश्वास की सत्यता बनाए रखने के लिए वह जूझ जाएगी जिंदगी से।

जानती थी कि उसका बाहर लोगों में निकलना इतना आसान नहीं होगा। पास के सभी स्टोरों, रेस्तराँ में उसने फोन मिलाए। वह घर पर बैठे उनके लिए वह सब काम करके दे सकती है जिन्हें वे लोग मेहनत या समय बचाने के लिए खुद नहीं करना चाहते। कुछ फोन करने पर ही आर्डर मिल गया। "अच्छा पाँच पाउंड खमण-ढोकला कल सुबह पहुँचा देना। पसंद आया तो बड़ा आर्डर मिलेगा। दाम उसने इतने कम बताए कि कोई ना ही न कर पाए।

अगली सुबह वह दो घंटों की कवायद के बाद तैयार होकर निकली। पाँच मिनट की दूरी पर ही मुख्य बाजार था, देसी दुकानों से भरा। अभी बाजार में आवाजा ही नहीं शुरु हुई थी। फिर भी जो लोग थे वे उसे झेंपी-झेंपी सी नजरों से देखते। सोचा, भला हो इस मुल्क का जहाँ लोगों में इतनी सभ्यता है कि घूर कर दूसरे को असहज नहीं करते।

दुकान में दाखिल होते ही जैसे सब कुछ थम गया। वह तैयार थी इसके लिए। पीछे से चलकर एक बुजुर्ग सरदार जी पास आ गए। शायद वही मालिक थे।

"मैं सोना हूँ। कल आपसे आर्डर लिया था। ये रहे समोसे और ढोकला।" उसने दोनों चीजें बहुत सँभालकर काउंटर पर रख दीं।

वह चुपचाप उसके हाथों की ओर देखते रहे।

"तूने बनाया है?"

"जी"

"किसी और को नहीं भेज सकती?"

सोना ने ना में सिर हिलाया।

"कोई गाहक देख लेगा तो शायद यह खाना खरीदने से इनकार कर दे।"

पहले काम पर ही तेजाब की बूँद गिरी थी उसके दिल पर।

"पा जी, इज्जत से अपने पाँव पर खड़ा होने की कोशिश कर रही हूँ।" वह रुआँसी हो गई।

इस बार सरदार जी ने उसे भरपूर नजरें उठाकर देखा। उनके चेहरे पर जमा-घटा चलती रही।

"कोई बात नहीं, तू दुकान खुलते ही पिछले दरवाजे पर आकर दे जाना।" उन्होंने उसके हाथ में पैसे पकड़ाए।

"कल-परसों वीक एंड है। बड़ा आर्डर चाहिए। दो सौ समोसे और चार ट्रे ढोकला की। सौ कचौड़ियाँ...' वह लिखती गई।

वह कई दिन से देख रही थी कि एक बुजुर्ग औरत सामने वाली अपॉर्टमेंट बिल्डिंग की सीढ़ी पर बैठी रहती है। सुबह जब बाहर निकली तो तब भी यूँ ही सिर झुकाए बैठी थी। उसने सोना की ओर देखा तक नहीं। अब सामान लेकर लौटी तो तब भी यूँ ही बैठी थी। सोना ने सामान घर के अंदर रखा। उत्साह पर घबराहट का पसीना आ गया। अकेली कैसे करूँगी यह सब?

बाहर निकलकर उस महिला के सामने खड़ी हो गई। महिला ने आँख उठाकर सोना को देखा। दहशत से उसकी आँखें फैल गईं।

"अम्मा", सोना ने भरसक कोमलता से कहा।

"हुँह"

"मेरी काम में मदद करोगी? कुछ पैसे भी दूँगी।"

वह बुजुर्ग औरत उठकर खड़ी हो गई जैसे एकदम उसके साथ चलने को तैयार हो।

"तुम अपने घर वालों को बता दो कि सामने वाले अपॉर्टमेंट में जा रही हो।"

"कोई नहीं है।" वह बेहद घबराई सी लगी।

सोना उसे अपने घर में ले आई।

"अम्मा तुम ठीक हो न?" सोना को लगा कहीं कुछ ठीक नहीं।

वह औरत सुबकने लगी। सुबकते-सुबकते ही बताया कि बेटा-बहू के साथ यहाँ रहती है। दो दिन पहले वह उसे किसी शॉपिंग-माल के अंदर छोड़ गए यह कहकर कि तीन-चार घंटे बाद उसे ले लेंगे। वे आए ही नहीं। मॉल बंद हो रहा था तभी कोई देसी आदमी पूछते-पाछते उसके घर के बाहर छोड़ गया। यहाँ ताला लगा था। पड़ोसी ने बताया कि उनका बेटा सपरिवार यह घर छोड़कर कहीं चला गया है। तबसे वह उसी दरवाजे के बाहर बैठी है। किसी को नहीं जानती।

"अम्मा मैं हूँ न।" सोना उसे गले लगाना चाहती थी पर अपने को काबू कर गई।

दो कटोरों में खिचड़ी डाल दी। "चल अम्मा पहले खा लें। काम बाद में भी हो जाएगा।"

सुशीला सोना के संघर्ष को देखती रही। हाथों में उँगलियों के नाम पर तीन छोटे से ठूँठ। हथेलियों जैसी चपटी जगह से कड़छी थामती, दोनों हथेलियाँ जोड़ कर घुमाती। जिद थी बस कुंठित न होने की।

सुशीला ने आगे बढ़कर कड़छी थाम ली। "मैं सँभाल लूँगी सब पकाने का काम। तुम बस ऊपर की मदद करती रहना।"

सुशीला की दक्षता देखकर सोना दंग रह गई। यह माँ कहाँ से आ गई मेरी मदद करने? बहुत मनुहार से बोली, "अम्मा तुम मेरे साथ ही रहो, जब तक तुम्हारे बेटे का पता न लग जाए।"

सुशीला की आँखें डबडबा आईं। उसने सोना को आँसुओं के परदे के पीछे से देखा तो लगा जैसे वह कोई खूबसूरत परी हो।

सोना ने एक बड़े रेस्तराँ से भी बात कर ली। सब्जियाँ हम काट देंगे। दहीबड़े तल कर पहुँचा देंगे। पनीर बनाने का काम हमारा। कुछ बड़े बर्तन और दूसरी काम की चीजें भी खरीद लाई।

एक दिन दरवाजे पर एक युवती खड़ी थी। सुशीला ने ही परिचय करवाया कि यह अंजू है।

"दीदी, मुझे भी खाना बनाना आता है, काम देंगी?'

सोना देखती रह गई कि कैसे मदद करने के लिए कोई दरवाजे पर आ गया।

अंजू ने ही बताया कि वह और उसका पति नए-नए अमरीका आए हैं। देवर-देवरानी के साथ उन्हीं के घर में रह रहे हैं। बच्चे भारत में अपनी माँ के पास छोड़ आई। पति रेस्तराँ में ऊपर का काम करता है। न मालिक उसे भरपेट खाना देता है और न देवरानी उसको। वह भी अगर कुछ कमा ले तो दोनों एक अलग कमरा लेकर रह लें, सोना की ही तरह। सोना सब आर्डर लेती। सुशीला और अंजू लगन और मेहनत से सारा काम कर देतीं।

जब सोना हफ्ते भर की कमाई अंजू को थमाती तो दोनों के चेहरे दमकते, आभार से, आत्म विश्वास से। सुशीला पैसे लेने से मना कर देती। कहती, जब रहती ही यहीं हूँ तो क्या करूँगी इनका।

"अम्मा, तुम्हारी अमानत है, जब चाहो ले लेना।" सोना एक डिब्बे में उसके हिस्से के पैसे रख देती।

"सोना, काम फैल गया है। जगह बहुत छोटी पड़ती है। अंजू बता रही थी कि कोने वाला तीन कमरों का फ्लैट खाली है, बड़ी जगह ले लो। सोना ने बड़ा घर भी ले लिया। पुराने अपॉर्टमेंट में सिर्फ काम होता था। आस-पड़ोस की औरतें आती गईं, जुड़ती गईं।

सोना फोन पर ही ऑर्डर लेती, सामान भी मँगवा लेती। अब सुशीला सब कुछ देख रही थी। सामान पहुँचाने के लिए भी मदद रख ली। सोना पूरी खबर रखती किसी मंदिर में कोई धार्मिक अनुष्ठान हो या सामाजिक उत्सव। हम पहुँचाएगे भोजन।

बड़े घर में सुशीला के आलावा भी कुछ और महिलाएँ रहने लगीं। चंदा, जिसका पति शराब पीकर उसे पीटता और घर से धक्का देकर निकाल देता। वह सोना का दरवाजा खटखटाती। सुशीला उसे भी एक तकिया और चादर पकड़ा देती।

सोना अपने कमरे में अलग पड़ी रहती। फोन करती या पैसे लेती-देती। केटरिंग का काम इन सब ने सँभाल लिया था। वह सोचती, यह क्या हो रहा है? कहाँ से यह परिवार जुड़ रहा है, बन रहा है और बढ़ रहा है? वह कुछ भी न जानने के छोटे से घेरे से निकलकर अनुभव के इतने बड़े, जलते हुए आग के दायरे में कैसे पहुँच गई। वह चंदा के बदन पर प्रताड़ना के निशान देखती है। अंजू का कुंहलाया चेहरा, एक एक पैनी जोड़ती है। भेजती है अपने उन बच्चों को जिन्हें देखे उसे एक लंबा अरसा हो गया है। शायद बच्चे उसे भूल भी चुके होंगे। सुशीला की पनीली आँखों का दर्द, जो भूले से भी अपने जाए को बद्दुआ वहीं देती। हम सभी औरतें दर्द के धागे में पिरो दी गई हैं। खामोश, काठ के मोती।

मार्किट में एक स्टोर खाली है, बड़े मौके की जगह पर। सोना ने दुकान किराए पर ले ली। अब तक थोड़ी समझ आ गई थी व्यापार की नब्ज पहचानने की। सोना भंडार नाम रखा। पूरी मार्किट में एक भी दुकान नही थी - स्टील के बर्तनों की, देवी-देवताओं की मूर्तियों की। ताँबें के कलश, आरती की थालियाँ, पूजा का सामान, होली के रंग, उपहार की टोकरियाँ, मोतियों के सेहरे, दूल्हे की पगड़ियाँ, सिंदूर, मेहँदी, रोली, काँच की चूड़ियाँ, सभी कुछ। दुकान चल पड़ी। अंजू कैश-रजिस्टर पर। सोना ओट में रहती, सिर्फ देखती।

उसे लग रहा था अंजू पीछे रहकर सब काम चुस्ती से कर लेती है पर ग्राहकों से बात करते वक्त असहज हो जाती है। उसने दो और औरतें रख लीं, दुकान में हाथ बँटाने के लिए। दिन में ज्यादा लोग नहीं आते थे। ज्यादा आमदनी शनि-रविवार को ही होती। सोना नियमित रूप से डॉलर्स भाई को भेजती, माँ का ख्याल रखने को। पैसों की फरमाइशें बढ़ती जाती, वह चुपचाप पूरा कर देती। सोचती, शुक्र है, मैं कर सकती हूँ।

एक खाली सी दोपहर में सुशीला ने अनायास पूछा, "सोना, तूने कभी सोचा कि तू क्यों बच गई?

"मुझे यह भी नहीं मालूम कि मैं जली ही क्यों थी? यह भी नहीं मालूम कि जिंदा क्यों हूँ? शायद कोई कारण रहा होगा, मैं नहीं जानती।" अतीत की बात से कभी वह खुद ही धुआँ-धुआँ हो जाती है।

सुशीला उसके चेहरे की ओर बस देखती भर रही। कहना चाहती थी, सोना, तू हमारे लिए बच गई।

दिवाली के दिन। बाजार में बेहद भीड़। लगता था जैसे स्टोर का दरवाजा बाहर से बार-बार धकियाया जा रहा हो। इतनी व्यस्तता, न अंजू सँभाल पा रही थी और न ही किसी और के बूते की बात। इन दिनों सोना बहादुरी का मुखौटा पहन, खुद आकर कैश-रजिस्टर पर बैठ गई। कैश रजिस्टर स्टोर में घुसते ही बाई ओर बिल्कुल दरवाजे के पास था। दाई ओर की काँच की खिड़की से सोना बाहर सड़क पर भी नजर डाल लेती है।

न लोग उससे नजरें मिलाते हैं और न वह खुद उनके चेहरे के भाव देखती है। भूल जाती है कि वह कैसी दिखती है पर लोगों के चेहरे आईने बन जाते हैं। 'बदसूरत', 'बदसूरत' चिल्लाते हुए कि कहीं उसके जख्म सूख न जाए। वह उनकी आँखों पर तो हाथ नहीं रख सकती पर अपनी नजरों को रोक सकती है, वह सब स्वीकार करने से जो उसे बिना माँगे मिलता है।

कितने सभ्य हैं यहाँ के लोग जो कभी शिष्टता की लक्ष्मण-रेखा नहीं लाँघते। काश, कभी लाँघते। शिष्टता के बर्फीले आवरण से बाहर निकल अपनेपन की धूप में उसके पास बैठते। कभी तो कोई पूछता कि यह कैसे हुआ? सोना, तू कैसी है? ठीक है न? उसके नंगे, ठूँठे हाथों को कोई बस सहजता से छू भर लेता।

उसकी आँखें एक आर्द्रता से मिचमिचाने लगती हैं।

"ऊ... ह", वह दर्द भरी एक अजीब सी आवाज गले से निकालती है। स्टोर के पिछले हिस्से में काम करने वाली मालती सब कुछ छोड़कर उसके पास आकर खड़ी हो गई - खामोश। वह पहचानती है इस दर्द को, इस आवाज को।

एक दिन उसने हिम्मत करके सोना से पूछ भी लिया था। "कभी पिछली बातें याद करके गुस्सा, क्षोभ, प्रतिहिंसा की भावना, तुम्हें कुछ नहीं व्यापता?"

सोना की सोच में बहुत सी बातें तैरती हैं। नाम, परिस्थतियाँ और कुछ न सही तो किस्मत या बदकिस्मती। आसानी से किसी पर भी दोष की सुई इंगित कर सकती है। पर होगा क्या? भुरभुरी राख पर लौटकर तो वह धँसेगी ही। जो है, इस वास्तविकता को झेलने के लिए, जो हो चुका उस जमीन को तो छोड़ना ही होगा।

सोना बहुत कुछ अंदर गटकती है। अभी भी उसके पास एक खूबसूरत सी चीज बची है। वह अपने होंठ फैलाकर दाँत दिखला देती है।

"यस प्लीज!"

ग्राहकों की लंबी कतार, ज्यादातर औरतें ही। पति लोग कभी साथ ही अंदर आ जाते या फिर बाहर ही खड़े रहते।

"लाल चूड़ियाँ हैं? मेहँदी और सिंदूर भी?

"सब कुछ है"

वह औरत उसे देखकर थोड़ी असहज हुई। उसे छिपाती हुई बोली, "वह करवा-चौथ आ रहा है न, इसलिए।"

सोना ने चुपचाप सामान निकालकर काउंटर पर रख दिया। उसके स्टोर में सब चीजें सिर्फ दूसरों के लिए हैं, बेचने के लिए। अपने लिए नहीं।

दूसरी औरत गोटे टंकी आरती की थैली का भाव जानना चाह रही थी।

"बीस डॉलर? महँगी है, कोई दूसरी नहीं।"

सोना ने स्टोर के पिछले हिस्से में सामान टिकाती मालती को आवाज दी।

"जरा इन्हें छोटी थाली दिखाना।"

बाहर के दरवाजे को ठेलता एक गदबदा-सा पाँच छह साल का बच्चा स्टोर के भीतर घुस आया।

"मॉम, डैड सेज बाई थिंग्स फार डिवाली टू"।

बात खत्म करते ही बच्चे की नजर सोना पर पड़ी। वह डर के मारे चीख पड़ा। बच्चे की माँ झेंप गई। "इट इज ओके हनी"। वह बच्चे को सँभालने लगी। बच्चा चीखता गया। उसका मुँह लाल हो गया, आँखें फैल गईं और वह काँप रहा था।

"आई एम सॉरी"। वह औरत बिना सामान लिए ही जल्दी से बच्चे को उठा स्टोर से बाहर निकल गई।

भरी दुकान में चुप्पी छा गई।

सोना जल्दी से काउंटर के पीछे से निकली और बाथरूम की तरफ लपकी।

` अंदर से सिटकनी लगाई। फफक-फफक कर रो पड़ी। रुलाई बेकाबू हो गई। पेट पकड़कर दोहरी हो गई।

"क्या किसी और का बच्चा भी देख तक नहीं सकती?" कलेजे से एक चीरती सी चीख उठी। जी चाहा आज उम्र भर का रोना रो ले।

सँभाला अपने को। दुकान में ग्राहक खड़े हैं। जोर-जोर से मुँह पर पानी के छपाके मारे। "चुप, चुप।" काँपते होठों को बरजा।

"अब बस, हो गए पाँच मिनट। आज का तेरा रोने का कोटा खत्म।"

उखड़ी साँसे सँभाली। होंठ खींचकर मुस्कान चिपकाई। मुस्तैदी से काउंटर के पीछे आ खड़ी हुई।

"एस, नेक्स्ट पर्सन प्लीज।

https://www.hindiadda.com/bas-paanch-minat/